[१२]

जो क्रियावान् है, वही विद्वान् है

यह धर्म सभा है। इस सभा में दिये गये प्रवचन जहाँ व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति में आगे बढ़ाने की प्रेरणा देते हैं, वहाँ उनमें समाज लौकिक उन्नति में नीति न्याय पूर्वक आगे बढ़े, इसका भी विवेचन होता है। गृहस्थ का सम्बन्ध धर्म से भी है, अर्थ से भी है और समाज से भी। इन सबसे सम्बन्ध होते हुए भी सद्गृहस्थ अर्थ को प्रधानता नहीं देता। वह समाज को उन्नति की ओर बढ़ाने का लक्ष्य रखता है और उसकी दृष्टि धर्म-केन्द्रित रहती है।

यहाँ इस धर्म सभा में जो भाई-बहिन उपस्थित हैं, मैं समझता हूँ वे सद्गृहस्थ की श्रेणी में आते हैं और धर्म के प्रति उनकी रुचि है। श्रावक के लिए शास्त्रों में कई विशेषणों का प्रयोग हुआ है। उनमें एक विशेषण 'धम्मिया' भी है। यों तो साधु और श्रावक दोनों का लक्ष्य एक अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त करना है। इस दृष्टि से साधु और श्रावक के जानने और मानने में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है केवल चलने में, आचरण में। साधु पूर्ण त्यागी होता है और श्रावक अंशतः त्यागी। श्रावक को अपने गृहस्थ जीवन का दायित्व निभाना पड़ता है। सामान्य गृहस्थ की दृष्टि अर्थ प्रधान होती है पर जिसकी दृष्टि सम्यक् अर्थात् धर्म प्रधान बन जाती है, वह श्रावक धर्म निभाने का अधिकारी बन जाता है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए धर्म का आचरण करना साधारण बात नहीं है, काजल की कोठरी में चलने के समान है। उसमें चलते हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि से बचने और किसी प्रकार का कोई काला धब्बा न लगे, इसमें बड़ी कुशलता और सावधानी की आवश्यकता है। यह कुशलता ज्ञान और आचरण से आती है।

श्रावक वह होता है, जो धर्मशास्त्र के वचनों को श्रद्धापूर्वक सुनकर विवेकपूर्वक उन पर आचरण करता है। मनुष्य परिवार और समाज में रहता है। उसके समक्ष कई समस्याएँ आती हैं। जो त्यागी होता है, वह उनके प्रति निर्लेप भाव रखने से उनमें उलझता नहीं। पर जो रागी होता है, यदि उसमें ज्ञान और विवेक नहीं है, तो वह उनमें उलझता चलता है। जिसने श्रावक धर्म के रास्ते पर चलना आरम्भ कर दिया है, वह आसानी से समस्याओं का समाधान पा लेता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आज समाज में जो स्थिति है, उसमें धन की प्रमुखता है। पर ऐसा नहीं है कि समाज में विद्वान् नहीं हैं या समाज में विद्वत्ता के प्रति स्नेह और सम्मान का भाव नहीं है। समाज में विद्वानों के होते हुए भी धनिकों और श्रमिकों की भाँति उनका अपना कोई एक मंच नहीं था। अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् की स्थापना से श्वेताम्बर जैन समाज की यह कमी पूरी हुई है। विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे अपनी बुद्धि का प्रयोग स्व-पर के कल्याण व आध्यात्मिक दिशा में करें तथा लोग यह समझें कि विद्वान् समाज के लिए उपयोगी हैं। समाज के साथ जैसे धनिकों का दायित्व है, वैसे ही विद्वानों का दायित्व है। धनिकों का यह कर्तव्य है कि वे विद्वानों को अपने ज्ञान और बुद्धि के सम्यक् उपयोग के लिए आवश्यक समुचित साधन उपलब्ध करायें और उनके सम्मान व स्वाभिमान की रक्षा करें।

अच्छा और सच्चा विद्वान् वह है, जो समाज से जितना लेता है उससे ज्यादा देता है। धनपति बनना जहाँ बंध का कारण है, वहाँ विद्यापति बनना बंध को काटने का कारण है। पर विद्या तभी फलीभूत होती है, जब वह आचरण में उतरे। इसीलिए कहा है 'यस्तु क्रियावान् तस्य पुरुष सः विद्वान्' अर्थात् जो क्रियावान है, वही पुरुष विद्वान् है। विद्वत्ता के लिए अच्छा बोलना, लिखना, पढ़ना, सम्पादन करना आदि पर्याप्त नहीं है। श्रद्धालु-अश्रद्धालु, सबमें ऐसी विद्वत्ता आ सकती है, पर विद्या वह है जो भव-बंधनों से मुक्त होने की कला सिखाये।

आज समाज में साक्षर विद्वान् तो बहुत मिल जायेंगे। सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर साक्षर शिक्षित बनाने के लिए हजारों की संख्या में स्कूल, कॉलेज आदि हैं, पर साक्षरता के साथ यदि सदाचरण नहीं है तो वह साक्षरता बजाय लाभ पहुँचाने के हानिकारक भी हो सकती है। संस्कृत के एक कवि ने ठीक ही कहा है—

"सरसो विपरीतश्चेत्, सरसत्वं न मुञ्चति।
साक्षरा विपरीतश्चेत्, राक्षसा एव निश्चिताः॥"

अर्थात् जिसने सही अर्थ में विद्या का साक्षात्कार किया है, वह विपरीत स्थितियों में भी अपनी सरसता को व समभाव को नहीं छोड़ता। सच्चा सरस्वती का उपासक विपरीत परिस्थितियों में भी 'सरस' ही बना रहता है। 'सरस' को उल्टा-सीधा किधर से भी पढ़ो 'सरस' ही पढ़ा जायेगा। पर जो ज्ञान को आचरण में नहीं ढालता और केवल साक्षर ही है, वह विपरीत परिस्थितियों में अपनी समता खो देता है। वह 'साक्षरा' से उलटकर 'राक्षसा' बन जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आज अधिकांशतः समाज में यही हो रहा है। बेपढ़े-लिखे लोग स्वार्थपूर्ति के लिए ऐसा भ्रष्ट आचरण नहीं करते, जो तथाकथित पढ़े-लिखे लोग करते पाये जाते हैं। बिज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में जिस ज्ञान का विकास हुआ, उसका उपयोग मानव-कल्याण और विश्व-शान्ति के बजाय मानवता के विनाश और भय, असुरक्षा अशान्ति की परिस्थितियाँ पैदा करने में ज्यादा हो रहा है।

आज जैन विद्वानों को आत्मनिरीक्षण करने की जरूरत है। वे यह सोचें कि उनके अपने ज्ञान का उपयोग स्व-पर कल्याण में, धार्मिक रुचि बढ़ाने में, समाज संगठन को मजबूत बनाने में कितना और कैसा हो रहा है? जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा और समता है। सामायिक और स्वाध्याय के अभ्यास द्वारा ज्ञान को प्रेम और मैत्री में ढाला जा सकता है। आचार्य अमित गति ने चार भावनाओं का उल्लेख करते हुए कहा है—

"सत्वेषु मैत्रीं, गुणीषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देव॥"

अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्री हो, गुणीजनों के प्रति प्रमोद हो, दुःखियों के प्रति करुणा हो और द्वेषभाव रखने वालों के साथ माध्यस्थ भाव—समभाव हो।

यह भावना-सूत्र व्यक्ति और समाज के लिए ही नहीं प्रत्येक राष्ट्र के लिए मार्गदर्शक सूत्र है। इस सूत्र के द्वारा विश्व-शन्ति और विश्व-एकता स्थापित की जा सकती है। संसार में जितने भी प्राणी हैं उनके प्रति मित्रता की भावना सभी धर्मों का सार है। जैन धर्म में तो सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी की रक्षा करने पर भी बल दिया गया है, फिर मानवों की सहायता और रक्षा करना तो प्रत्येक सद्-गृहस्थ का कर्तव्य है। आज समाज में आर्थिक विषमता बड़े पैमाने पर है। समाज के कई भाई-बहिनों को तो जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नसीब नहीं है। समाज के सम्पन्न लोगों का दायित्व है कि वे अपना कर्तव्य समझकर उनके सर्वांगीण उत्थान में सहयोगी बनें।

समाज में धन की नहीं, गुण की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। यह तभी सम्भव है जब हम गुणीजनों को देखकर उनके प्रति प्रमोद भाव व्यक्त करें। जिस भाई-बहिन में जो क्षमता और प्रतिभा है, उसे बढ़ाने में मदद दें। पड़ौसी को आगे बढ़ते देख यदि प्रमोद भाव जागृत न होकर ईर्ष्या और द्वेष भाव जाग्रत होता है, तो निश्चय ही हम पतन की ओर जाते हैं।

जो दुःखी और पीड़ित हैं, उनके प्रति अनुग्रह और करुणा का भाव जागत

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होना चाहिये। हमारी समाज व्यवस्था में कहीं न कहीं ऐसी कमी है जिसके कारण तरह-तरह की बाहरी विषमताएँ हैं। समाज एक शरीर की तरह है और व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों के रूप में। शरीर के विभिन्न अंग आँख, नाक, कान, उदर आदि अलग-अलग स्थानों पर स्थित होकर भी अलगाव नहीं रखते, उनमें सामंजस्य है। पेट यद्यपि जो कुछ हम खाते हैं उसे पचाता है, रस रूप बनाता है, पर वह उसे अपने तक सीमित नहीं रखता। रक्त रूप में वह शरीर के सभी अंगों को शक्ति और ताजगी देता है। समाज में श्रीमंत शरीर में पेट की जगह हैं। वे अपनी सम्पत्ति जमा करके नहीं रखें, सभी के लिए उसका सदुपयोग करें। शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, वही स्थान समाज में विद्वानों का है। मस्तिष्क जैसे शरीर के सभी अंगों की चिन्ता करता है, उनकी सारसभाल करता है, वैसे ही विद्वानों को समाज के सभी अंगों की चिन्ता करनी चाहिये। समाज में दया, करुणा और सेवा की भावना जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना मानवता का विकास होगा।

सुखी और शांत बने रहने के लिए आवश्यक है विपरीत स्थितियों में भी द्वेष रखने वाले लोगों के प्रति भी समभाव रखना, माध्यस्थ भाव बनाये रखना। समाज में कई तरह की वृत्तियों वाले लोग हैं—व्यसनी भी हैं, हिंसक भी हैं, भ्रष्ट आचरण वाले भी हैं। पर उनसे घृणा न करके उनको व्यसनों और पापों से दूर हटाने के प्रयत्न करना विद्वानों का कर्तव्य है। घृणा पापियों से न होकर पाप से होनी चाहिये। हम सबका यह प्रयत्न होना चाहिये कि जो कुमार्ग पर चलने वाले हैं, उनमें ऐसी बुद्धि जगे कि वे सुमार्ग पर चलने लगें। वह दिन शुभ होगा जब व्यक्ति, समाज और विश्व में इस प्रकार की सद्भावनाओं का व्यापक प्रचार-प्रसार होगा।

◆ ◆ •

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org